विज्ञान, समाज और पत्रकारिता

—डॉ. जयन्त विष्णु नार्लीकर

समाचार-पत्रों की आधुनिक परम्परा दो या तीन शतकों से अधिक पुरानी भले ही न हो, पत्रकारों की परम्परा, मेरे ख्याल से, काफी लम्बी है। मैं देवर्षि नारद को आद्य-पत्रकार मानता हूँ। 'रामचरितमानस' के बालकाण्ड में जब नारदजी हिमालय के यहाँ जाते हैं, तो पर्वतराज कहते हैं—

''त्रिकालग्य सर्वग्य तुम्ह गति सर्वत्र तुम्हारि''।

नारदजी त्रिकाल जानते थे और सभी जगह आते-जाते थे। आज के पत्रकार इसी आदर्श को निभाने में प्रयत्नशील रहते हैं। फिर इधर का समाचार उधर सुनाना, अफवाहें फैलाना, एक जगह की गुप्त मंत्रणा को अन्यत्र सुनाना, आगामी संकट के प्रति किसी नरेश को सावधान करना या एक व्यक्ति को दूसरे के प्रति भड़काना ....। यदि नारद न होते तो हमारी पौराणिक गाथाएँ उतनी रोचक न बनतीं और आज के पत्रकारों को जैसे कुछ अवसरों पर क्रोध का शिकार बनना पड़ता है, वैसे अनुभव नारदजी को भी आते थे। लेकिन 'नारायण-नारायण' कहते हुए किसी काण्ड से अपनी अलिप्तता जितनी सफाई से वे कर पाते थे, उतनी कामयाबी शायद आज के पत्रकार हासिल नहीं कर पाए हैं।

पत्रकारिता का दूसरा पौराणिक, लेकिन अधिक सीमित उदाहरण मिलता है महाभारत में संजय का। जब धृतराष्ट्र युद्ध का आँखों देखा हाल सुनना चाहते थे, तब व्यासजी ने संजय को दिव्य दृष्टि प्रदान की और धृतराष्ट्र से कहा—

चक्षुणा संजयो राजन्दिव्यैनेष समन्वितः।
कथयिष्यति ते युद्धं सर्वज्ञश्च भविष्यति॥
प्रकाशं वा रहस्यं वा रात्रौ वा यदि वा दिवा।
मनसा चिंतिमपि सर्वं वेत्स्यति संजय॥ —(भीष्मपर्व-6.2.10-11)

यानी प्रकट हो या गुप्त, दिन में या रात में, इतना ही नहीं मन में उभरने वाले विचारों को भी जानने की क्षमता संजय को मिली थी और संजय युद्ध की भली-बुरी

वार्ताएँ तो सुनाते ही थे, पर उन पर टिप्पणियाँ भी करते थे। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि 1991 के खाड़ी युद्ध में सी.एन.एन. (C.N.N.) टेलीविजन ने जो करामातें दिखाईं वे संजय ने महाभारत-युद्ध में प्रस्तुत की थीं।

नारद और संजय के उदाहरण मैंने इस हेतु दिये कि वार्ता या समाचार के प्रति मानव पुरातनकाल से उत्कण्ठित रहा है। ये दोनों पात्र तात्कालीन आवश्यकताओं के निदर्शक हैं। आज भी हम समाचार-पत्रों को भले ही कोसें, पत्रकारों को बाधा या हस्तक्षेप मानें, तो भी जिस दिन अखबार की छुट्टी रहती है, वह दिन कुछ सूना-सूना सा लगता है।

इसीलिये पत्रकारिता आज के जन-जीवन का ऐसा महत्त्वपूर्ण अंग बनी है कि इसका समाज गठन पर काफी प्रभाव पड़ सकता है। क्या मनुष्य की जानकारी की पिपासा और आधुनिक तकनीकी साधनों द्वारा उस प्यास को बुझाना, इस मार्ग से हम समाज को नई दिशाएँ दिखा सकते हैं? पत्रकारिता एक ऐसा माध्यम है, जो समाज के भले और बुरे दोनों काम आता है। बुरे पर अंकुश लगाना और भले को आगे बढ़ाना—क्यों कर सम्भव हो सकता है?

इन प्रश्नों पर विचार-मंथन करने से पहले, आइए देखें, समाज पर आज क्या गुजर रही है और उसके प्रकट कठिन मसलों की अप्रकट जड़ें कहाँ हैं और कैसी हैं?

आज का युग अक्सर 'विज्ञान युग' इस नाम से सम्बोधित किया जाता है। इसकी वजह यही है वैज्ञानिक खोजें और उनका तकनीकीकरण, यह क्रिया इतनी तेजी से चल रही है कि उनको समझना और अपनाना तो दूर रहा, उनके अस्तित्व मात्र से मानव समाज भौंचक्का सा होता जा रहा है। इस सिलसिले में आल्विन टोफ्लर नामक लेखक ने अपनी पुस्तक फ्यूचर शाक (Future Shock) में कुछ मनोरंजक जानकारी पेश की है जिसका जिक्र मैं यहाँ करना चाहूँगा।

मानव समाज का ज्ञात इतिहास कोई 50,000 वर्षों से अधिक नहीं रहा होगा ..... यानी जहाँ तक आज हमें जानकारी उपलब्ध है, आदि मानव का जमाना यहीं कहीं से अपने अस्तित्व के प्रमाण देता रहा है। टोफ्लर महोदय इस कालखण्ड को करीब 800 समान भागों में बाँटते हैं, ताकि एक भाग, या पर्व साढ़े बासठ साल का होता है। या हम कह सकते हैं कि एक पर्व सामान्य रूप से एक मानव का जीवन-कालांश के बराबर है। इस प्रकार 50,000 वर्षों का कालखण्ड 800 मानवी पर्वों के बराबर मानकर हम टोफ्लर की भूमिका प्रस्तुत करते हैं।

तो जहाँ तक हमें इतिहास गवाही देता है, इन 800 पर्वों में से 650 पहले पर्व, यानी अस्सी प्रतिशत से अधिक, मानव ने प्राथमिक दशा में गुफाओं, जंगलों में रहकर

बिताए। जिस आधार पर हम आज संस्कृति का मूल्यांकन करते हैं वह लेखनकला, जिसके द्वारा मानव एक पर्व से दूसरे पर्व तक अपनी जानकारी पहुँचाता रहा है, उसे केवल पिछले 70 पर्वों में ही ज्ञात थी .... यानी दस प्रतिशत से भी कम, और जिसे आज हम दैनिक जीवन का एक साधारण भाग मानते हैं, वह मुद्रण-कला मानव पिछले 6 पर्वों से ही इस्तेमाल करता आया है।

दैनिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है घड़ियाँ। मिनिट एवं सेकण्ड जैसे सूक्ष्म कालखण्ड मापन करने की क्षमता मानव ने पिछले 4 पर्वों में ही हासिल की और आज के विविध यंत्रों—बिजली की बत्तियाँ, पंखे आदि से लेकर क्रेन जैसे महाकाय मशीनों को चलाने वाली इलेक्ट्रिक मोटर का आविष्कार पिछले दो-ढाई पर्वों मात्र का है और यदि हम अपने दैनिक जीवन की समीक्षा करें तो हमें यह पता चलेगा कि आज इस्तेमाल की जाने वाली अधिकांश वस्तुएँ एक पर्व पहले मौजूद नहीं थीं।

यह अन्तिम वाक्य कितना सारगर्भित है। खेती के लिये आवश्यक ट्रैक्टर, शहरी जीवन में सदा देखे जाने वाले ट्रांजिस्टर, टेलीविजन, रेफ्रिजरेटर जैसे उपकरण, एस.टी.डी. फोन एवं फैक्स जैसे संचार-वार्ता के साधन, सभी जगह अपना प्रभाव दिखाने वाले कम्प्यूटर, अंतरिक्ष में चक्कर लगाने वाले यान और मानव निर्मित उपग्रह, आधुनिक युद्ध में इस्तेमाल होने वाले शस्त्रार्थ—जहाँ भी देखें हमें ऐसी चीजें दिखाई देंगी, जो इन 800 पर्वों में से अन्तिम पर्व में ही प्रकट हुई। इतना ही नहीं, विज्ञान की खोजों के कई तकनीकी आविष्कार अन्तिम आधे पर्व में हुए यह वास्तविकता भी भुलाई नहीं जा सकती।

आल्विन टोफ्लर का यह कहना है कि उपयुक्त पर्वक्रम हमें विज्ञान के बढ़ते प्रभाव की याद दिलाता है। यह प्रभाव उसी तरह बढ़ रहा है जैसे चक्रवृद्धि ब्याज लगने से ऋणराशि बढ़ती है या संतति नियमन के अभाव में जनसंख्या बढ़ती है और इस प्रभाव को समझकर उसको पचाने की क्षमता समाज में नहीं है। एक उपमा से यह स्पष्ट हो सकेगा।

कल्पना कीजिये कि हम किसी दावत में आमंत्रित हैं और मेज पर तरह-तरह के व्यंजन परोसे जा रहे हैं। किसी एक व्यक्ति के, चाहे वह तगड़ा पहलवान क्यों न हो, बस के बाहर की बात है कि वह प्रत्येक पदार्थ का एक नमूना खा सके। फिर भी यदि कोई ऐसा प्रयास करता भी है, जब तक वह मेज पर के आधे पदार्थ चख लेता है, कुछ अन्य नये पदार्थ वहाँ आ जाते हैं, फिर वह उन्हें भी चखना चाहेगा ...। आखिर एक ऐसी स्थिति आ पहुँचेगी कि उसका पेट जवाब दे दे। फिर उसे अपने जिह्वालौल्य के दुष्परिणाम भुगतने पड़ेंगे और साथ ही एक असन्तोष भी सताता रहेगा कि मैंने कितने ही नये पदार्थ चखे भी नहीं।

ऐसे अविवेकी भोक्ता को विवेक का पाठ पढ़ाना हो, तो हम उससे कहेंगे—"भाई, सभी चीजें खाना न तो तुम्हारे बस की बात है, न तो वे तुम्हारे स्वास्थ्य के लिये लाभप्रद होंगी। इनमें से इनी-गिनी कुछ चीजें लो—इनसे तुम्हें खाने का मजा भी मिले और तुम्हारी तंदुरुस्ती भी ठीक-ठाक रहे।"

आज की आवश्यकता इसी विवेक को अपनाने की है जिसकी बदौलत समाज विज्ञान और तकनीकी की देनों को, जिनकी संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है, सोच-समझकर अपनाए। इसी विवेक के अभाव में समाज आज एक किंकर्त्तव्यविमूढ़ जैसी मनःस्थिति से गुजर रहा है। लेकिन यह विवेक का पाठ समाज को पढ़ाए कौन?

इस विषय पर काफी विचार मंथन हो रहा है जिसकी कुछ झलकें अब मैं आपके सामने पेश करूँगा।

पिछली शताब्दी के अन्त तक वैज्ञानिक अनुसंधान समाज से कुछ अन्तर रख, सीमित रूप में प्रयोगशालाओं में हुआ करते थे। आइजक न्यूटन और माइकेल फैराडे तक की विज्ञान परम्परा कुछ धनिकों के आश्रय से या राज्याश्रय से या स्वयं वैज्ञानिक के अपने खर्चे से टिकी रही, क्योंकि इन प्रयोगशालाओं का आर्थिक बोझ सीमित था। लेकिन धीरे-धीरे यह बोझ बढ़ने लगा .....कैसे? यह एक उदाहरण द्वारा देखें।

1991 में इंग्लैण्ड में रदरफोर्ड ने जब परमाणु विच्छेदन किया तब उसके प्रयोग के उपकरण प्रयोगशाला में ही बनाए गए। उस सम्पूर्ण सामान को एक व्यक्ति हाथ से उठा सकता था और उनका मूल्य कुछ सैकड़ों रुपयों में गिना जा सकता था।

फिर उस परमाणु-अनुसंधान की अगली सीढ़ी चढ़ने के लिए वाल्टन और काक्राफट ने जो 'लीनियर ऑक्सिलरेटर' बनाया वह एक कमरा व्याप्त किये था और उसका मूल्य पचास हजार रुपयों के आसपास था। फिर एक-दो वर्ष पश्चात् लारेंस और लिव्हिंग्स्टन ने कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में एक साइक्लोट्रॉन बनाया जिसका मूल्य था, कोई तीन लाख रुपये, जबकि उन्हें एक महत्त्वपूर्ण भाग—इलेक्ट्रोमैग्नेट, भेंट में मिला था।

इस यंत्र की बड़ी एवं सुधारित आवृत्ति 1939 में बनीं, कोई दस गुने मूल्य पर। यह इतनी विशाल थी कि इसे चलाने के लिये कई तंत्रज्ञ थे और इससे जुड़ी एक प्रयोगशाला भी थी और दूसरे महायुद्ध के उपरान्त इससे अठारह गुनी कीमत से एक विशाल साइक्लोट्रॉन बना, जिसकी अपनी इमारत तो थी ही, पर साथ ही प्रयोगशालाओं का एक संकुल भी उससे जुड़ा था। यहाँ बनने वाले शक्तिशाली मूलकणों के आघात से बचने के लिए काफी सावधानियाँ बरतनी पड़ीं।

फिर 1953 में इस साइक्लोट्रॉन की तुलना में पाँच गुनी कीमत चुकाकर एक नया एक्सलरेटर 'बेवाट्रॉन' बना, जिसका व्यास 34 फीट था। एक फैक्ट्री के समान इस प्रयोगशाला की अपनी कॉलोनी थी।

इसके पश्चात् 'सर्न' (Council Europeen des Recherches Nucleaires) नाम से आज भी विख्यात प्रयोगशाला की रचना हुई 1960 में, जो बेवाट्रॉन से तिगुने से भी अधिक दाम से बनी। एक रिंग के आकार का यह यंत्र दो सौ मीटर व्यास का है। यह प्रयोगशाला एक राष्ट्र के बजट से कहीं अधिक थी, जिस वजह से इसकी कीमत, यूरोप के कई धनी राष्ट्रों ने मिलकर चुकाई।

यूरोप और अमेरिका में बढ़ती प्रतियोगिता का ही परिणाम था कि 'सर्न' के मुकाबले अमेरिका में फर्मी लैब बना जिसकी रिंग सर्न की रिंग से ढाई गुना बड़ी थी और दाम था, 'सर्न' से आठ गुना ..... पच्चीस करोड़ डॉलर। फर्मीलैब बना 1973 में, लेकिन वैज्ञानिकों के अनुसंधान की बढ़ती सीमाओं ने उन्हें फिर प्रेरित किया कि इससे कहीं बेहतर सुपर कोलाइडर क्यों न बनाएँ। अरबों डॉलर की लागत की यह प्रयोगशाला टेक्सस राज्य में बननी शुरू हो गई थी, पर बढ़ते बजट को देखते हाल ही में अमरीकन गवर्नमेन्ट ने इस परियोजना को खारिज कर दिया।

मैंने कुछ विस्तार से मूलकणों के अनुसंधान के लिये आवश्यक और मनु की मछली की तरह बढ़ते और अधिकाधिक कीमती प्रयोगों का जिक्र इसीलिये किया कि बीसवीं सदी में विज्ञान के अनुसंधान की व्यापकता की कुछ झलक मिले। विज्ञान के विविध विषयों में यही हाल देखने को मिलेगा—मानव की जिज्ञासा उसे निरन्तर नयी खोजों के लिये प्रेरित करती है, लेकिन दिनोंदिन इस अनुसंधान क्रिया की व्यापकता बढ़ती जाती है।

फिर प्रश्न उठता है कि इन करोड़ों, अरब डॉलरों का बिल आखिर कौन चुकाता है? अमेरिका जैसे धनी देश में भी जहाँ, फोर्ड, राकफेलर जैसे प्रतिष्ठान विज्ञान की अनुसंधान-परियोजनाओं को खुले हाथ से सहायता देते हैं, अधिकांश खर्च का दायित्व सरकार ही वहन करती है। इस सिलसिले में कई प्रश्न सामने आते हैं—

1. यदि सरकार वैज्ञानिक अनुसंधान का अधिकांश व्यय वहन करती है तो उस खर्च का संनियंत्रण (Moniyoring) कैसे होता है?
2. सरकार जो धन अनुदान करती है वह उसे जनता से टैक्स द्वारा मिलता है। तो क्या इस खर्च के प्रति जनता जागरूक रहती है?
3. वैज्ञानिक अनुसंधान के दो पहलू हैं—शुद्ध और उपयुक्त (Pure and Applied), क्या 'शुद्ध' अनुसंधान जिसका कोई उपयोग अपेक्षित नहीं है, अनुदान के लायक है?
4. क्या वैज्ञानिक अनुसंधानों से नये खतरे पैदा हो सकते हैं?
5. उपयुक्त अनुसंधान बना-बनाया परदेश से खरीदना बेहतर है, या स्वावलम्बन को ध्यान में रखकर, स्वदेशी अनुसंधान को आगे बढ़ाना?

इस तरह के अनेक प्रश्न सामने आते हैं। इसके अलावा विज्ञान एवं तंत्र विज्ञान के प्रति समाज को जाग्रत करने के लिये कई पहलुओं पर व्यापक मंच पर चर्चा की आवश्यकता है। अन्यथा, टोफ्लर की चेतावनी के अनुसार समाज और भी भ्रमित अवस्था में रहेगा। आवश्यकता है, जानकारी के आदान-प्रदान की, क्योंकि केवल जानकारी ही इस भ्रमितावस्था से समाज को बाहर खींच सकती है और यहाँ एक महत्त्व का और आवश्यक दायित्व है पत्रकारिता का। यहाँ 'पत्रकारिता' में समाचार-पत्रों के अलावा रेडियो, टीवी आदि माध्यम भी हैं।

पत्रकारिता विज्ञान और समाज के बीच की दूरी को निश्चय ही घटा सकती है। जनसामान्य में विज्ञान के प्रति कुतूहल, जिज्ञासा, डर, अनास्था और तटस्थता, सभी प्रकार की प्रवृत्तियों का मिश्रण पाया जाता है। पत्रकारिता का उद्देश्य यह रहना चाहिये कि पाठक या श्रोता को तटस्थता से हिलाएँ, जिन कारणों से उसके दिल में डर या अनास्था है, उन्हें दूर करने का प्रयास करें और उसके कुतूहल और जिज्ञासा का लाभ उठाकर उसे विज्ञानाभिमुख करें।

आज के माहौल में ऐसे कई प्रश्न हैं, जिनकी चर्चा व्यापक रूप से होनी आवश्यक है। अंग्रेजी कहावत है—'Knowledge is Power'. संस्कृत में हम कहते हैं—''वादे वादे जायते तत्त्वबोधः'। आज के प्रभावशाली संचार माध्यमों का प्रयोग जानकारी बढ़ाने के लिये होना चाहिये, लेकिन ऐसे मार्ग से जिसमें चर्चा, वाद-विवाद को स्थान मिले।

प्रश्न बहुत हैं, जो इस माध्यम से चर्चा के लिये सामने आएँ। मैं कुछ इने-गिने प्रश्नों का जिक्र अब करूँगा। जैसा कि मैंने अभी बताया, मैं पत्रकारिता को व्यापक दृष्टि से देखता हूँ जिसमें समाचार-पत्रों के अलावा मैग्जीन, पुस्तकें भी शामिल हैं और रेडियो, टीवी, वीडियो आदि भी हैं तथा व्याख्यानों, प्रश्नोत्तरों द्वारा जनसम्पर्क का भी समावेश है।

मेरे विचार से सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न है वैज्ञानिक दृष्टिकोण का। वैज्ञानिक दृष्टिकोण विज्ञान से कहीं अधिक व्यापक है। विज्ञान का विकास जिस आलोचनात्मक कार्य-प्रणाली से होता है, उसका प्रयोग हमें दैनिक जीवन में भी उपयोगी सिद्ध होगा और यहाँ हमें अन्धविश्वासों को त्याग कर तर्कसंगत पद्धति अपनानी होगी।

यह दुर्भाग्य की बात है कि धर्म का नाता चमत्कारों तथा अन्धविश्वासों से जोड़ा जाता है। इसलिये जब तथाकथित चमत्कारों की वैज्ञानिक जाँच के प्रयास किये जाते हैं या किसी अन्धविश्वास की आलोचना की जाती है, तब इसे धर्मविरोधी कृत्य कहा जाता है। चाहे आप किसी धर्म में विश्वास करें या न करें, किसी भी धर्म की सीख मानवता पर जोर देती है, उनका चमत्कारों या अन्धविश्वासों से कोई ताल्लुक नहीं।

यूरोप, अमेरिका में 1970-80 के दशक में यूरी गेलर के चमत्कारों का बोलबाला था। अपने तथाकथित मानसिक प्रभाव से गेलर चम्मच झुका सकता था। आखिर जेम्स रैण्डी नामक एक पेशेवर जादूगर ने केवल हाथ की चालाकी द्वारा गेलर के सभी 'चमत्कार' कर दिखाए। इस भण्डाफोड़ में पत्रकारिता का योगदान रहा है।

पिछले कई वर्षों से 'Skeptical Inquirer' नामक एक पत्रिका अमेरिका से निकलती है, जिसमें चमत्कार, अन्धविश्वास, फलितज्योतिष आदि की वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जाँच, आलोचना की जाती है। यह रही परदेश की बात। क्या हमारे देश में ऐसा प्रयास नहीं किया जा सकता?

विज्ञान के क्षेत्र में भी कपटकाण्ड होते हैं। दूसरे वैज्ञानिक का अनुसंधान चुराकर प्रकाशित करना, या मनगढ़न्त नतीजे सच बताकर छापना आदि घटनाएँ भारत में नहीं विदेश में भी हुआ करती हैं। इनकी जानकारी समाज के सामने पेश करना भी पत्रकारिता के लिये एक रोचक विषय हो सकता है।

1903 की घटना है जब फ्रांस के एक मशहूर वैज्ञानिक ब्लांडलो ने ऐलान किया कि उन्होंने N-किरणों का आविष्कार किया है, जर्मनी के वैज्ञानिक रूंटजेन ने X-किरणें खोजी थीं, उनके मुकाबले पड़ोसी राष्ट्र फ्रांस को अपनी इस खोज पर गर्व था। ब्लांडलो को अनेक सम्मान, पुरस्कार मिले। लेकिन धीरे-धीरे यह स्पष्ट होने लगा था कि जो N-किरणों के सबूत ब्लांडलो को मिल रहे थे, वे इंग्लैण्ड और जर्मनी के वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशालाओं में हासिल नहीं कर पा रहे थे।

आखिर उन्होंने वुड नामक अमेरिकन वैज्ञानिक से प्रार्थना की कि वे स्वयं जाकर ब्लांडलो के प्रयोगों की जाँच करें। वुड महाशय वहाँ गये और उन्होंने यह नतीजा निकाला कि N-किरणें वास्तव में हैं ही नहीं। वुड का वर्णन वैज्ञानिक पत्रकारिता का एक अच्छा उदाहरण है।

आजकल वैज्ञानिक अनुदानों की बढ़ती संख्या के कारण कुछ इने-गिने वैज्ञानिक इस मोह के शिकार हो जाते हैं कि अपनी महत्ता बढ़ाने के लिए झूठे मनगढ़ंत नतीजे अपने नाम पर जाहिर करें। पत्रकारों का यह दायित्व है कि ऐसी घटनाओं की जाँच कर उन्हें प्रकाशित करें।

भारत में कई एजेंसियाँ विज्ञान और तंत्रविज्ञान की परियोजनाओं के लिए अनुदान देती हैं। डिपार्टमेन्ट ऑफ साइन्स एण्ड टैक्नालॉजी, डिपार्टमेन्ट ऑफ अटामिक एनर्जी, काउंसिल ऑफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च, डिफेंस एण्ड डेवलपमेन्ट आर्गनाइजेशन, यूनिवर्सिटी ग्रांट कमीशन, डिपार्टमेन्ट ऑफ स्पेस आदि के द्वारा कई संस्थान भी चलाए जाते हैं।

यहाँ किन विषयों पर अनुसंधान चल रहे हैं? उनसे क्या नतीजे निकले हैं? उनका प्रयोग कहाँ हुआ है या हो रहा है? यदि प्रश्नों के उत्तर इन संस्थानों की वार्षिक रिपोर्टों में भले ही मिलें, लेकिन वे जनता तक नहीं पहुँच पाते। यह एक गहरी खाई है, जिस पर पत्रकारिता ही एक पुल बाँध सकेगी।

इन विभिन्न संस्थानों और विश्वविद्यालयों में कार्यरत वैज्ञानिकों के इंटरव्यू लेकर उनके कामों की जानकारी जनता जनार्दन के सामने रखना स्थानीय पत्रकारों को असम्भव नहीं। कभी-कभी वैज्ञानिक ही किसी महत्त्वपूर्ण खोज की जानकारी प्रेस को देते हैं। हमारी राष्ट्रीय या राज्य स्तरीय विज्ञान अकादमियाँ भी अपने कार्यक्रमों को अधिक प्रकाश में लाना चाहती हैं और इसमें पत्रकार हाथ बँटा सकते हैं।

भारत में अन्तरराष्ट्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर कार्यशालाएँ, विचारगोष्ठियाँ आदि हुआ करती हैं, जिसमें दिग्गज वैज्ञानिक भी कभी-कभी भाग लेते हैं। इनके भाषण, इंटरव्यू आदि रेडियो, टी.वी. या समाचार-पत्रों में प्रकाशित करके हम इन वैज्ञानिक घटनाओं की जानकारी जनता को दे सकते हैं।

शुद्ध अनुसंधान और उपयुक्त अनुसंधान में से किसको, या दोनों को किस स्तर पर बढ़ावा देना चाहिए? क्या एक विकासशील देश शुद्ध अनुसंधान पर धनराशि खर्च कर सकता है? क्या दिये गए अनुदानों का सदुपयोग हो रहा है? आदि जो प्रश्न मैंने पहले प्रस्तुत किए थे उन पर वैज्ञानिकों, सरकारी नीति-निर्धारकों और कुछ हद तक आम जनता के मतों की चर्चा पत्रकारिता के माध्यम से होनी चाहिए।

विज्ञान विशेषांकों में या रेडियो व टी.वी. पर खास चर्चा सत्र आयोजित करके इन प्रश्नों पर विचार मंथन किया जा सकता है। आखिर विज्ञान एक विशाल शक्ति है जो समाज के भविष्य की दिशा निश्चित कर सकती है। इस शक्ति को सामने लाना समाचार माध्यमों का कर्त्तव्य है।

ऐसी चर्चाओं में समाज को अधिक निकट महसूस होने वाले प्रश्न भी होने चाहिए। जैसे तंत्रविज्ञान के पीछे-पीछे आने वाला प्रदूषण, इसका क्यों कर मुकाबला किया जा सकता है? अणुभट्टियों के ईंधन के क्या खतरे हैं और उन पर किस प्रकार अमल किया जा रहा है? जैविक तंत्र विज्ञान में जो प्रयोग हो रहे हैं उनके दूरगामी परिणाम क्या होंगे? अंतरिक्ष में कृत्रिम उपग्रह भेजकर हमें क्या फायदे नसीब होते हैं?

कुछ पत्रकार अच्छे वक्ता भी होते हैं और उनसे यह आशा की जाती है कि वे ऐसे ज्वलंत प्रश्नों पर अभ्यासपूर्ण भाषण दें। हो सकता है उनके भाषण विवादास्पद हों। तो भी यदि वे जनता एवं सरकार का ध्यान इन विषयों की ओर आकर्षित कर पाएँ तो यह उनकी एक बड़ी देन होगी।

विज्ञान एवं तंत्र विज्ञान में प्रतिदिन कोई न कोई खोज की घोषणा होती रहती है। कोई वेधशाला किसी ब्रह्माण्डीय घटना के निरीक्षण की घोषणा करती है, जैसे नये धूमकेतु का आगमन या अतिदूर स्थित क्वेजार की खोज, या किसी आकाशगंगा में कृष्ण विवर का आभास। या किसी जैविकी प्रयोगशाला से किसी नये जीन-जिसका किसी दुर्दम्य रोग से नाता है—मिलने या पहचान होने की वार्ता मिलती है। कहीं दूरसंचार में अधिक कार्यक्षम प्रणाली खोजी या बनाई जाती है। या सौर ऊर्जा का इस्तेमाल करने का नया तरीका घोषित होता है। फिर सर्वदा गतिमान कम्प्यूटर क्षेत्र में नये आविष्कार होते हैं।

विज्ञान-तंत्र विज्ञान की दिन दूनी रात चौगुनी बढ़त की जानकारी समाज को देना और उस खास आविष्कार या अन्वेषण के भविष्य में सम्भव परिणामों की चर्चा करना वार्ता माध्यमों का कर्त्तव्य है। केवल 'युद्धस्य कथा रम्या' या 'नपनीतिरेकरूपाः' इस न्याय से लड़ाइयाँ और राजनीति के समाचारों तक ही समाज की जानकारी सीमित नहीं रहनी चाहिए, बल्कि जिनका समाज पर दूरगामी या शीघ्रगामी असर होने वाला है, ऐसी वैज्ञानिक-तंत्र वैज्ञानिक घटनाओं में भी समाज की स्वाभाविक रुचि एवं जिज्ञासा का फायदा पत्रकारिता को उठाना चाहिए।

भविष्य में वैज्ञानिक खोज के क्या परिणाम होंगे, यह कहना सहज काम नहीं है। ऐसी कुछ भविष्यवाणियाँ जो प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने की थीं और जो गलत साबित हुईं उनके कुछ उदाहरण देखें—

1. साइमन न्यूकंब 1835-1909 जैसे वैज्ञानिक ने कहा था कि मनुष्य यंत्रों की सहायता से उड़ सकेगा और दूर अन्तर तय कर सकेगा। यह एक असम्भव बात है जो अब पूरी तरह सिद्ध हो चुकी है।
2. थामस एडिसन जैसे तंत्र विशारद ने 1889 में आल्टर्नेटिंग करंट ए.सी. के व्यावहारिक प्रयोग पर गहरी चिन्ता व्यक्त की थी और कहा था कि यह एक अतीव खतरनाक माध्यम है, जिसका उपयोग आम जनता के लिए नहीं किया जाना चाहिए।
3. एडमिरल विलयम लीही ने 1945 में अमेरिका के अध्यक्ष ट्रूमन से कहा था कि विस्फोटकों के विशेषज्ञ होने के नाते उनका यह दावा था कि परमाणु बम बनाना हमारी सबसे बड़ी मूर्खता थी, क्योंकि यह बम विस्फोट ही नहीं करेगा।

ऐसी अनेक भविष्यवाणियाँ गलत साबित हुईं, फिर भी हमें भविष्य की ओर दृष्टिक्षेप करने का प्रयास करना ही चाहिए। गलत सिद्ध होने के डर से प्रयास ही न करना अनुचित है। बल्कि ऐसे प्रयास काफी हद तक सफल भी हुआ करते हैं और

मार्गदर्शन, चेतावनी आदि माध्यमों से समाज के लिए कल्याणकारी भी सिद्ध होते हैं। परमाणु युद्ध कितना घातक होगा इसकी पूर्वकल्पना ऐसे युद्ध टालने में आज तक कायमाब सिद्ध हुई है। वायुमण्डल में ओजोन वायु के विनाश के भावी खतरे को देखते हुए मानव ने कुछ सावधानियाँ बरतनी शुरू की हैं। पर्यावरण प्रदूषण के दूरगामी परिणामों की चर्चा समाज के लिए निश्चय ही कल्याणकारी है।

कुछ महीनों पहले महाराष्ट्र में भीषण भूचाल आया। इतने बड़े संकट की वार्ता संसार के कोने-कोने तक शीघ्र पहुँचाने में संचार माध्यमों ने हाथ बँटाया, परिणामस्वरूप सहायता भी शीघ्र पहुँच सकी। लेकिन जनमानस में आकुलता थी। कहाँ-कहाँ के क्षेत्र भूचाल से आगे कभी पीड़ित होंगे? क्या इनकी कुछ पूर्व चेतावनी मिल सकती है? क्या बाँधों की वजह से भूचाल अधिक आते हैं? इन प्रश्नों के उत्तर विशेषज्ञों ने दिए। कुछ समाचार-पत्रों में आये रेडियो-टी.वी. पर चर्चित हुए। यह विज्ञान-पत्रकारिता का ही उदाहरण है।

भीषण संकट, चाहे वे प्राकृतिक हों या मानव निर्मित जैसे चर्नोबिल काण्ड या यहाँ भोपाल की गैस दुर्घटना .... विज्ञान पत्रकारिता से यह अपेक्षा की जाती है कि वह कहाँ, क्यों, कैसे आदि प्रश्नों पर जोर दे। कभी-कभी वास्तविकता छिपाई जाती है, जो परदे से आगे आनी चाहिए। विज्ञान की अपूर्ण जानकारी से कुछ दुर्घटनाएँ होती हैं। कुछ में पूर्व व पूर्ण जानकारी के बावजूद आवश्यक सावधानियाँ नहीं बरती गईं, जिस वजह से दुर्घटना घटी। फिर दुर्घटना के पश्चात् क्या हम कुछ सीख पाएँ? या फिर पहले की तरह निष्क्रिय ही बने रहे?

विज्ञान एवं तंत्र-विज्ञान अपनाते समय उसके फायदे तो नजर आते हैं, पर खतरे नजर-अन्दाज किये जाने की सम्भावना होती है। पत्रकारिता ऐसे अवसरों पर समाज को सावधान कर सकती है। यह समाज के लिए पत्रकारिता की एक महत्त्वपूर्ण देन साबित हो सकती है।

इस पार्श्वभूमि में मैं अब इस विषय की संक्षेप चर्चा करूँगा कि देश में और विदेश में विज्ञान-पत्रकारिता का माहौल कैसा है। चूँकि पश्चिमी देशों में विज्ञान-तंत्र भली तरह फला-फूला माना जाता है, इसलिए पहले वहीं का हाल देखें।

अपनी पुस्तक 'The Wisdom of Science' में रेडियो खगोलशास्त्री हॅनबरी ब्राउन कहते हैं—

"Although advances in science and techonology has given us an unparalleled ability to communicate with one another by radio, television and vast quantities of print, that so-called 'Media' are seldom used to tell us about science ...."

याने, विज्ञान एवं तकनीकी से युक्त संचार माध्यम हमें विज्ञान के बारे में बहुत ही कम जानकारी देते हैं। आगे चलकर ब्राउन महोदय की शिकायत है—

"As far as journalism is concerned, it would prefer science to go away. Of the 1750 daily papers published in the USA, only 50 employ full-time science writers. The reason is, of Course, that the popular Media prefer topics that are more sensational and entertaining, and so they avoid science, they do this not only because they think science will bore their customers stiff, but also because it is difficult to find people who can put it over to the public successfully."

संक्षेप में, दैनिक अखबारों में विज्ञान की अपेक्षा सनसनी एवं मनोरंजन का पलड़ा भारी रहता है। इसके अलावा एक धारणा यह है कि विज्ञान के नाम से ही साधारण आदमी घबराता है। उसे यह विश्वास रहता है कि विज्ञान उसकी समझ से परे है और इसके पठन-पाठन से केवल उकताना हाथ आयेगा। विज्ञान को रोचक ढंग से लिखने वालों की भी कमी महसूस होती है।

जब विज्ञान में उन्नत देशों का यह हाल है तो फिर भारत का क्या कहना? नेशनल काउंसिल फॉर साइंस एंड टैक्नालॉजी कम्युनिकेशन (NCSTC) के तत्त्वावधान में ऊर्जा और पर्यावरण ग्रुप द्वारा जुलाई से दिसम्बर 1989 अर्द्धवर्ष काल में भारतीय अखबारों में छपी विज्ञान विषयक खबरों का सर्वेक्षण हुआ। इस सर्वेक्षण में पता चला कि इन समाचार-पत्रों में छपाई की जगह से विज्ञापनों का भाग घटाने पर जो बचता है उस क्षेत्रफल का 2.1 से 6.56 प्रतिशत मात्र विज्ञान सम्बन्धी समाचारों को मिलता है।

अब आप ही सोचिये—जिस विज्ञान एवं तंत्र विज्ञान ने हमारा जीवन आज अपने नियंत्रण में रखा है क्या उसके हिस्से इतना अल्पांश, दिलचस्पी का, उचित है? या तो इससे यह साबित होता है कि हमें यानी आम जनता को विज्ञान में दिलचस्पी नहीं है और वह विज्ञान एवं तन्त्र विज्ञान के भविष्य के प्रति लापरवाह है—या हमारे समाचार माध्यम इस दिशा में हमारी दिलचस्पी को, जिज्ञासा को सन्तुष्ट करने का कष्ट नहीं उठाना चाहते।

मेरे विचार में दूसरा विकल्प वास्तविकता के अधिक निकट है। इस निष्कर्ष के दो कारण हैं। पहला उपयुक्त सर्वेक्षण पर ही आधारित है। विज्ञान-सम्बन्धी समाचारों में काफी समाचार परदेशी वृत्त संस्थानों के हैं या अखबारों से लिये जाते हैं। न्यूयार्क टाइम्स, हेरल्ड ट्रिब्यून, लंदन टाइम्स या पेरिस के ल मॉन्द से निकले समाचारों को बिना किसी टिप्पणी या परिष्कार के छाप दिया जाता है।

दूसरा कारण मेरे अपने अनुभव पर आधारित है। मुझे ऐसे काफी मौके आते हैं जब मेरे भाषण आम नागरिकों के लिए आयोजित किए जाते हैं। ऐसे भाषणों में उपस्थिति बड़ी संख्या में रहती है, व्याख्यानोपरान्त प्रश्न भी काफी और अच्छे खासे पूछे जाते हैं। इस अनुभव से मैं इतना तो अवश्य कहूँगा कि जनमानस में विज्ञान के प्रति जिज्ञासा और रुचि काफी है।

अपने अखबारों में अपने ही समाचार स्रोत से विज्ञान की खबरें देने के लिए एनसीएसटीसी ने स्रोत नामक नियमित प्रकाशन शुरू किया। 'स्रोत' में विज्ञान विषयक घटनाओं, खोजों, वक्तव्यों आदि के बने-बनाए उद्धरण होते हैं जिन्हें कोई भी समाचार-पत्र बिना परिष्कार किये छाप सकता है। इस मार्ग से सम्पादकों की एक कठिनाई तो दूर हुई कि समाचार लाए कहाँ से? लिखें कैसे? और कब? यद्यपि स्रोत का यह प्रयोग कुछ हद तक सफल हुआ है, तो भी इसके प्रति जनजागरण की बजाय सम्पादक जागरण की आवश्यकता है।

एक और अनुभव यह है कि उत्तर भारत के तथाकथित हिन्दी क्षेत्र में प्रकाशित हिन्दी समाचार-पत्रों की विज्ञान समाचारों में दिलचस्पी अंग्रेजी पत्रों से कहीं अधिक है। कारण यह भी हो सकता है कि विज्ञान समझना-समझाना मातृभाषा में जितना सहज है, उतना शायद अंग्रेजी जैसी परभाषा में नहीं। स्वयं वैज्ञानिकों के शिरोमणि अल्बर्ट आइन्स्टाइन भी विज्ञान विषयक चर्चा में जब अधिक रंग जाते तो अंग्रेजी छोड़कर अपनी मातृभाषा जर्मनी में बोलने लगते। 'स्रोत' का फायदा उठाने वाले अखबारों में भी अधिकांश हिन्दी क्षेत्र से हैं।

कुछ अखबार अब हफ्ते में एक बार या महीने में एक बार विज्ञान विशेषांक प्रकाशित करने लगे हैं, यह एक उत्साह की बात है। ऐसे विशेषांकों में लिखने वाले लेखकों की संख्या बढ़ रही है। ऐसे लेखकों के लिए कार्यशालाएँ आयोजित होनी चाहिए, जहाँ उन्हें आकर्षक शैली में लिखने का अभ्यास हो सके। यह आनन्द की बात है कि माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता विश्वविद्यालय भी इस सत्कार्य में हाथ बँटा रहा है।

लेकिन विज्ञान लेखन या विज्ञान प्रस्तुतीकरण यह ऐसा क्षेत्र है, जिसमें प्रतिष्ठित वैज्ञानिक भी हाथ बँटा सकते हैं। अक्सर कहा जाता है कि जो व्यक्ति विज्ञान-शोध में सदा व्यस्त रहता है, उसे ऐसी बातों के लिए समय कहाँ? इस सन्दर्भ में हमारे पुराणों में एक रोचक आख्यान है। कहा जाता है कि शेष नाग पर स्थित विष्णु और लक्ष्मी दोनों पुराण ग्रन्थ भागवत कथा सुनाते थे। तो विष्णु भगवान् को भागवताख्यान में जितना समय लगता था, उसका चौगुना समय लक्ष्मीजी लेती थीं। इसका कारण? उत्तर अग्र श्लोक में है—

अधिकारे स्थितों विष्णुः लक्ष्मी निश्चिंत मानसा।
तेन भागवताख्यानं तस्या भूरि प्रकाशते॥

विष्णु भगवान् को सृष्टि की चिन्ता निभानी होती है, इसलिए वे झटपट भागवत सुना देते हैं। लक्ष्मीजी निश्चिन्त होने के कारण रस लेकर आख्यान सुनाती हैं, जो सुनने में अधिक भाता है।

हमारे वैज्ञानिकों को 'अधिकार' से कुछ समय छुट्टी लेकर जनता जनार्दन को विज्ञान गाथा सुनाने के लिए आगे बढ़ना चाहिए। जिस सरकारी अनुदान पर उनका अनुसंधान निर्भर रहता है, वह आखिर आम जनता की जेब से ही आया है और इसलिए उनका जनता के प्रति भी कुछ दायित्व होता है।

दायित्व के अलावा, जैसा गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरितमानस के प्रारम्भ में लिखा—

स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा
भाषानिबंध मति मंजुल मातनोति॥

इस लोकशिक्षा के कार्य में हाथ बँटाने में स्वयं को भी कुछ कृतार्थता का अनुभव होता है जैसा मैं स्वानुभव से कह सकता हूँ। अति मंजुल भाषा में लिखा रामचरितमानस लोकशिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण साधन सिद्ध हुआ और आज भी है। उसी तरह लोकभाषा में विज्ञान गाथा सुनाना समाज शिक्षा का एक अनूठा पर आवश्यक तरीका है।

लुई ले रॉय ने अपने Vicissitude (स्थित्यंतर) नामक पुस्तक में लिखा है—"दीर्घकाल के उपरान्त आज हमें संसार में इतने बड़े पैमाने पर द्वेष, पावित्र्यहीनता और असत्य फैले दिखाई देते हैं। भक्तिभाव का तो लोप हो गया है, जीवन में सादगी तथा सीधेपन का उपहास हो रहा है और न्याय तो खाली नाम मात्र के लिए बचा है। जहाँ देखें, वहाँ अन्धेर तथा किंकर्त्तव्यविमूढ़ता दिखाई देते हैं—योजना के अनुसार कुछ भी नहीं हो रहा है।"

आप कहेंगे कि यह वर्तमान का अच्छा चित्रण है। लेकिन ले रॉय ने यह पुस्तक लिखी थी सन् 1575 में, चार शताब्दियों पहले। उसने ऐसी टिप्पणी क्यों की? इस वजह से कि वह विज्ञान का उषाकाल था। तकनीकी साधनों की कुछ झलकें समाज को मिल रही थीं। तत्कालीन यूरोप में लौह चुम्बक की बदौलत दूर-दूर तक नौकायन सम्भव हो गया था और संसार के अन्य कोनों से सम्पर्क स्थापित होने लगा था। इसलिए नयी विचारधाराएँ पुरानी प्रस्थापित विचारधाराओं से टक्कर ले रही थीं। दूर के नये संसर्ग रोग निकट आ गये थे। विस्फोटकों की खोज से युद्धकाल में नयी विध्वंसक्षमता आ रही थी। सच्ची हालत में यह एक स्थित्यंकर ही था।

कुछ ऐसी ही दशा आज मानव समाज में है। संचार माध्यमों की कार्यक्षमता ने वैचारिक संघर्ष बढ़ाया है। लोकसंचार की सुलभता ने एड्स जैसे रोगों को शीघ्र फैला दिया। विस्फोटकों की विध्वंसक्षमता के बारे में तो क्या कहना? युद्धों की संहारकता को कल्पनातीत बढ़ी है। प्राकृतिक घटनाओं के साथ तकनीकी हौवे दिखते हैं। यांत्रिक जमाने में मनुष्य के सामने समय बिताने की समस्या आ खड़ी है, जिसके दुष्परिणाम बढ़ती गुनाहगारी, मादक पदार्थों का सेवन, बेरोजगारी समस्या आदि के रूप में हम देखते हैं।

ऐसे चित्र को देखकर कुछ लोग विज्ञान विमुख हो जाते हैं, ''काश यदि विज्ञान न होता, तकनीकी आविष्कार न होते तो कितना अच्छा होता ..... दो शताब्दियों पहले का शान्त सादा जीवन आज से कहीं बेहतर था'' ऐसे विचार भी सुनने को मिलते हैं। पर यह एकतरफा चित्र है, जिसमें कुछ हद तक 'दूरस्था पर्वता रम्या:' की भावना शामिल है। दो शताब्दियों पहले का जीवन सादा भले ही हो, उस समय भी समस्याएँ थीं, जैसे—बालमृत्यु, शीघ्र फैलने वाले संसर्गजन्य रोग, अकाल आदि। विज्ञान ने रोगों पर काफी हद तक विजय पाई है, जीवन स्तर ऊँचा किया है, आयु बढ़ाई .... इत्यादि गुण भी विज्ञान में हैं।

अन्त में हमें वैज्ञानिक वरदान अपनाने हैं, पर शापों के खतरों को दूर रखकर। यूरोप में ले रॉय चर्चित स्थित्यंतर के बाद नव-निर्माण का युग आया था, जब समाज में नया चैतन्य आया। यही बात अब हमें अगली सदी में साकार कर दिखानी है। इसलिए नीर क्षीर विवेक अपनाकर हमें काफी सावधानी बरत कर विज्ञान-तंत्र विज्ञान का इस्तेमाल करना है।

इस जन जागृति में विज्ञान पत्रकारिता को हाथ बँटाना है, क्योंकि यह समाज और विज्ञान को जोड़ने वाला एक सेतु है। आज यह पुल रस्सी का बना है जो थोड़े से धक्के से दोलायमान हो जाता है ..... आज इस पर थोड़ा ही संचार चालू है। इसे एक पक्के कंक्रीट के महासेतु में बदलना है जिस पर बड़े पैमाने पर यातायात हो सके। तब हम विज्ञान का समझ-बूझकर प्रयोग करके समाज में फिर एक नव-निर्माण की क्रिया चालू कर सकेंगे।

❑